UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186125

UNIVERSAL
LIBRARY

श्रीराम

काबा और कर्बला

श्रीमैथिलीशरण गुप्त

साहित्य-सदन,
चिरगाँव (झाँसी)

द्वितीय संस्करण

२००४ वि०

मूल्य

१।)

श्रीरामकिशोर गुप्त द्वारा

साहित्य प्रेस, चिरगाँव (झाँसी) में मुद्रित ।

आवेदन

इस यात्रा में जिन अनेक तीर्थ-पुरोहितों ने, प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में पथ-प्रदर्शन किया है, वस्तुतः वे ही इसके पुण्याधिकारी हैं। लेखक तो मानो सेतमेंत ही यह सुयोग पा गया है। उसके मन में एक आकांक्षा अवश्य थी और बहुत दिनों से थी। सन्तोष की बात है, वह आज इस प्रकार पूरी हो रही है।

तीस वर्ष पहले लेखक ने मुहम्मद साहब के कुछ विचार पद्यबद्ध करने का प्रयत्न किया था। वह भी आज इस रूप में सार्थक हो गया कि उनमें से कुछ दोहे इस पुस्तक में अपने अनुरूप स्थान पाने में समर्थ हो गये।

आक्रमणकारियों के कठोर कर्मों के कारण आक्रान्त लोगों को उनके धर्म के विषय में भी बहुधा भ्रान्त धारणाओं का लक्ष्य होना पड़ता है। अन्यथा मूलतः सब धर्मों के एक ही उद्देश्य होते हैं और उनके प्रवर्त्तक अपनी विशेषता रखते हैं। वास्तव में हजरत मुहम्मद जैसे महान थे वैसे ही उदार; जैसे उच्च वैसे ही विनम्र—

किया कठोर कुठार ने कितना वैर विरोध,
पर उस सक्षम की क्षमा लेती क्या प्रतिशोध।

खेद है, हमारे बहु संख्यक मुसलमान भाई भी, इस सम्बन्ध में अन्धकार में हैं। वे हमारी अपेक्षा भी अपनों से प्रकाश पाने के अधिक अधिकारी हैं।

मुहम्मद साहब ने काबा में अपने मत की प्रतिष्ठा करने में जिस सहनशीलता और धीरता का परिचय दिया, वह उन्हींका काम था। परन्तु उसकी निष्ठा का उनके नाती ने कर्बला में जो मूल्य चुकाया, वह इतिहास की कैसी करुण-कथा है! मुसलमानों का वह विजय-वैभव विलीन हो गया है, परन्तु वे, अपने इमाम के उस बलिदान के धन के बल से, आज भी संसार भर के मन का मोल कर सकते हैं!

पाठक देखेंगे, हजरत हुसैन के साथ कुछ आर्य अथवा हिन्दुओं ने भी कर्बला के नरमेध में आत्माहुति दी थी। लेखक इसकी कल्पना भी नहीं कर सकता था। परन्तु स्वर्गीय प्रेमचन्दजी ने इसका 'एतहासिक प्रमाण' पाया था। इसलिए लेखक इसकी चर्चा किये बिना न रह सका। उसने यह कार्य श्रद्धा पूर्वक ही किया है, स्पर्द्धा पूर्वक नहीं।

लेखक ने अपनी ओर से जो किया है, वह यही कि उसने इमामहुसैन का चित्रण अपने ही दृष्टिकोण से किया है। बहुत से शत्रुओं के संहार की अपेक्षा उनकी वीरता उनके बलिदान में ही लेखक की दृष्टि में, अपनी विशेषता रखती है। इसी प्रकार उनकी करुणा भी अधीर रोने में नहीं, गम्भीर होने में ही अपना महत्त्व प्रकट करती है।

लेखक ने सहानुभूति और सम्मान के वश ही इस कार्य में प्रवृत्त होने का साहस किया है। अतएव उसके अज्ञात प्रमाद अक्षम्य न होने चाहिए:—

तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रणोदितः

अपने देश में आन्तरिक सुख-शान्ति के लिए हमको हिलमिल कर ही रहना होगा। समान-दुख ही हमारी पारस्परिक सहानुभूति का आधार नहीं होना चाहिए। यह तो एक विवशता का विषय है। हमें एक दूसरे के प्रति उदार और सहिष्णु होना होगा; एक दूसरे से परिचय और प्रेम बढ़ाना होगा। हमारी मैत्री भावना 'प्रेम एव परोधर्मः' पर ही प्रतिष्ठित हो सकती है। स्वयं मुहम्मद साहब के विचार इस सम्बन्ध में कितने उदार हैं:—

यह सारा संसार है उस प्रभु का परिवार,
सबसे रखना चाहिए प्रेम-पूर्ण व्यवहार।
यही ईश्वरोपासना, यही धर्म का मर्म,
एक दूसरे के लिए करें यहाँ हम कर्म।
मनुज मात्र के अर्थ जो करते हैं उद्योग,
सच्चे जन भगवान के हैं बस वे ही लोग।

प्रसिद्ध मुसलिम विद्वान् अमीर खुसरो के सूफी विचार तो यहाँ तक जाते हैं:—

मैं प्रेम का पूजक, मुझे इसलाम से क्या काम है,
प्रति तन्तु तन्मय है यहाँ, उपवीत किसका नाम है।

चिरगाँव,
मकर संक्रान्ति १९९९

अर्जन करो कृतज्ञता और क्षमा का दान।
वहाँ मिलेगा स्वर्ग सुख यहाँ विजय-सम्मान।

—खलीफा मन्सूर।

सूची

अदब	१३
कला	१५
सहधर्मिणी	१६
गुरुजन	१७
दासता	२०
प्रेय और श्रेय	२२
दृढ़ता	२४
हिजरत	२६
मातृभक्ति	२९
साक्षी	३०
गर्व	३१
प्रमाद	३३
नमाज	३४
प्रतिबोध	३५
यहूदी	३६
स्वस्ति	३७

पाप की स्वीकृति	३८
नबी के निर्देश	३९
सफीया	४१
आयशा	४२
वरण	४३
अभियोग	४४
औदार्य	४५
पतिव्रता	४८
स्वदेश	५०
सन्त-वाणी	५१
माँ-बेटी	५२
न्याय	५३
अकबर	५९
प्राप्ति	६०
ताज	६१
कर्बला	६५

श्रीगणेशायनमः

लाड़ लड़ा चाहे तो झल्ला ,
नहीं छूटने का वह पल्ला ।
इस देही की गति वैदेही ,
मुक्ति-मूर्त्ति मेरी तू अल्ला !*

* अल्ला=माता ।

काबा

अरब

स्त्री—

मैं प्रत्यूष - पूर्व - तारा की
तनया-सी वह मरुबाला ,
डगमग पग पड़ते ही जिसके
जगमग मृदुल शयनशाला !
यशोगान प्रिय मुझे तुम्हारा
शौर्य्य और साहस वाला ;
देख नहीं सकती कदापि मैं
हार भगे का मुहँ काला ।

पुरुष—

सदा स्वतन्त्र अरब जन हूँ मैं ,
मिला जिसे प्रभुसे निज मान ;
प्राप्त मुकुट के बदले पगड़ी ,
घरके बदले पट परिधान ।
मुझे दुर्ग के बदले उसने
सिद्ध शस्त्र हैं किये प्रदान ,
विधि-विधान के बदले मैंने
पाये हैं उससे प्रिय गान ।

काबा

हुआ प्रकृति से जो विध्वस्त,
उसे पुरुष ही करे प्रशस्त।
फिर, पहले से भी अभिराम;
खड़ा हुआ गिर काबा धाम।
उसमें वह असवद पाषाण,
जिसके चुम्बन में कल्याण,
करे कौन संस्थापित आज?
लगा झगड़ने अरब-समाज।
जन जन वहाँ बड़प्पन मार,
जता उठा अपना अधिकार।
करे कौन अब पथप्रकाश?
न हो यादवों-सा कुल-नाश।
"वीर बन्धुओ, न हो अधीर"
सहसा शब्द हुआ गम्भीर—
"रहने दो यह अशुभ विवाद।"
मान्य मुहम्मद का था नाद।

"प्रभु-समक्ष, सोचो टुक मौन,
बड़ा कौन, छोटा है कौन?
तने न भौंह, न खिचे कमान,
उसके जन हम सभी समान।
वीर, दिखाओ धीर-विवेक,
बिछा बड़ी-सी चादर एक,
रख उस पर पावन पाषाण,
सभी उठाओ, पाओ त्राण।"
"साधु मुनिमद, साधु सुयुक्ति,
मिली हमें संकट से मुक्ति।
हाथ लगावें सब अनिवार्य,
करो तुम्हीं संस्थापन-कार्य।"

सहधर्मिणी

अहा खदीजा व्यस्त हुई—
पति को देख भटकता-सा,
बढ़ता और अटकता-सा,
काँटा कहीं खटकता-सा!
बोली वह सम्मुख झुक कर—
"स्वामी, किस उद्देश्य-वशा,
हुई हाय! यह अवश दशा,
जैसे कोई करे नशा!"
कहा मुहम्मद ने रुक कर—
"संगिनि, मैं सकुचाता हूँ,
प्रेयस् खोता जाता हूँ।
पर क्या श्रेयस् पाता हूँ?"
गृहिणी अब आश्वस्त हुई—
"मेरे नाथ, निराश न हो,
मेरा मन कह रहा अहो!
पाओगे, विश्वस्त रहो।"

गुरुजन

प्रभु का प्रसाद सब पाते हैं,
पर सन्त बाँट कर खाते ।
हजरत को ज्यों ही ज्ञान हुआ,
उनको प्रचार का ध्यान हुआ।
बाहर बहुतों को दम्भ हुआ,
घर से ही कार्यारम्भ हुआ।
भार्या तो थी अविभिन्न भली,
पहले विश्वासी बने अली।
अपने चिर रक्षक चाचा से
बोले हजरत वर वाचा से।
"मैं आमन्त्रित करने आया,
चलिए, मैंने सत्पथ पाया।"
भव्याकृति भद्र भले भोले,
सस्नेह अबूतालिब बोले—
"चढ़ वत्स, पुनीत मनोरथ में,
निर्भीक बढ़ो तुम निज पथ में।

जो हम दोनों का स्रष्टा है,
साक्षी वह मेरा द्रष्टा है।
सुत-तुल्य तुम्हें मैंने माना,
निज अग्रज का प्रतिनिधि जाना।
अब तुम सब भाँति समर्थ हुए,
मेरे श्रम-कष्ट न व्यर्थ हुए।
बस दिन दिन फूलो और फलो,
अपने मत के अनुसार चलो।
मैं आप किन्तु असमर्थ यहाँ,
जाऊँ तज कर निज धर्म कहाँ?
पितरों ने आप जिसे पाला,
मैंने भी जिसे नहीं टाला।
सब हैं स्वतन्त्र अपने मत में,
फिर भी शत विघ्न किसी व्रत में।
मैं किन्तु मानता न्याय्य तुम्हें,
दूँगा भरसक साहाय्य तुम्हें।"
बोले फिर वृद्ध वदान्य बली
"तूने क्या निश्चय किया अली?"
"मैं मन से इनका अनुगामी।"
"बढ़, तेरा भला करे स्वामी।

दूँ क्यों मैं वत्स, तुझे बाधा ?
तूने स्वकीय शुभ ही साधा।
तेरा वर बन्धु मुहम्मद है,
तू गुरुजन का ही अनुपद है।"

दासता

साधन ही धन मान्य मुहम्मद मानते,
अपने को वे एक ईश-जन जानते।
बड़े बड़े भी जिन्हें गुहार जुहारते,
वे अपना घर आप सदैव बुहारते।
दिया किसीने एक दास लाकर उन्हें,
नव चिन्ता ही हुई उसे पाकर उन्हें।
वे टुक देखा किये उसे चुपचाप ही,
"क्या स्वकार्य अब मैं न करूँगा आप ही?
नहीं नहीं, यह ठीक नहीं मेरे लिए,
होगा ऐसा कर्म नहीं मेरे किये।
रक्खूँ जन को आप पाप-परतन्त्र मैं,
दूँगा फिर किस भाँति मुक्ति का मन्त्र मैं?"
उठा हृदय में वेग एक उच्छ्वास का,
हजरत ने कर पकड़ लिया बड़ दास का।
"किसी वर्ग के और किसी भी देश के,
बन्धु सभी हम दास एक अखिलेश के।

रहो न अब से तात, हीन वा दीन तुम,
मेरे जैसे हुए आज स्वाधीन तुम।"
विस्मित होकर दास हुआ गद्गद निरा,
पुनरुज्जीवित सदृश पदों पर वह गिरा।
"पहले प्रभु ने प्रभो, मूल्य मेरा दिया,
विना मूल्य ही क्रीत आपने कर लिया।
तन पर ही अधिकार रहा उसका वहाँ,
न्योंछावर ये प्राण आप पर हैं यहाँ।"

प्रेय और श्रेय

अरब में उसमान था अच्छा धनी,
एक दिन गृहिणी उसीकी अनमनी,
मलिन-सी आई अरब-गुरु के यहाँ,
"यह दशा क्यों ?" चकित प्रभ हुआ वहाँ।
आह भर बोली बधू—"मैं क्या कहूँ,
देखता है कौन कैसे भी रहूँ ?
दिन कठिन उपवास, रात उपासना,
और स्वामी को नहीं कुछ वासना।"
दुःख उसके अर्थ सुन सबको रहा,
किन्तु क्या उसमान को जाता कहा ?
हाल हजरत को सुनाया जब गया,
तब न नीरव रह सकी उनकी दया।
घर बुला बोले नबी उस भक्त से—
"वत्स, तुम क्यों व्यर्थ विश्व-विरक्त-से ?
दान है भगवान का भव-योग भी,
विहित है उसका यथाविध भोग भी।

क्यों न लें हम जो हमारा भाग हो,
समय पर संग्रह समय पर त्याग हो।
प्रेय भी लो, श्रेय भी लो, क्षेम से,
पात्र हो उस एक प्रभु के प्रेम से।"

दृढ़ता

जिसे कृपालु पिता ने पाला ,
निठुर ससुर ने उसे निकाला ।
बेटी जैनब रोती आई ,
घर-घर दोनों खोती आई !
हजरत का भी जी भर आया ,
उसे उन्होंने धैर्य बँधाया ।
हाथ पीठ पर उसकी फेरा ,
"तुझको दण्ड मिला यह मेरा !
मुझे उसीने पत्थर मारा ,
अब तुझ पर यह क्रोध उतारा ।
बेटी, मेरा दोष यही है
मान्य मुझे विभु एक वही है ।
मैं न सत्य से मुँह मोड़ूँगा ,
और न अपना पथ छोड़ूँगा ।
कोई कुछ कर ले या कह ले ·
बेटी, तू भी यह सब सह ले ।

भले भले हित की यदि सुन लें,
कुछ गहरे में जाकर गुन लें,
तो नर क्यों पीछे पछतावें?
क्यों अवसर खोकर रह जावें?
जो सन्देश सुनाने आते,
पहले उत्पीड़न ही पाते।
पर क्या वे इससे भय खाते?
कहते कहते हुत हो जाते।
लगे तुझे यह ओक अँधेरा,
पर वह लोक बना है तेरा।
बेटी, खो बैठी तू माया,
किन्तु राम को तूने पाया।"

हिजरत

सुलभ नहीं वह दृष्टि, सहज ही
नई ज्योति जो सह ले,
जँचते हैं निज तारक जन तक
हमें प्रतारक पहले।
हुए आदि में हजरत के भी
निज जन आप विरोधी,
और यहाँ तक चले मारने
उन्हें कुरैशी क्रोधी।
कहा नबी ने अबूबक्र से—
"हुई जाति ही हननी,
हमें छोड़नी होगी मक्का
जन्मभूमि यह जननी।"
"क्या मरने के डर से हजरत?"
हजरत फिर हँस बोले—
"बन्धु, मरण-भय-विजयी भी तुम
आहा! इतने भोले।

जीवन ऐसा तुच्छ नहीं, हम
करें उपेक्षा जिसकी,
प्रभु के कार्य्य-हेतु हम सबको
रहे अपेक्षा इसकी।"
अबूबक्र उठ खड़े हुए—"जो
आज्ञा" कहते कहते,
निकल गये नगरी से दोनों
रजनी रहते रहते।
दौड़े प्रतिपक्षी भी पीछे
समाचार यह पाकर;
विपद देख दोनों छिप बैठे
एक गुहा में जाकर।
शंकित अबूबक्र तब बोले
"हजरत, हम हैं दो ही,
पर कोलाहल करते आते
सौ सौ अपने द्रोही।"
कहा नबी ने—"तुम यह मेरे
लिए सोच करते हो,
बन्धु, किन्तु दो नहीं, तीन हम,
क्यों इतना डरते हो?"

"तात, तीसरा यहाँ कौन है ?"
पूछा तब अनुगत ने ;
"वह अपना पालक परमेश्वर"
बतलाया हजरत ने ।

मातृभक्ति

धर्म-युद्ध-सेना में भरती
होने एक युवा चला,
हजरत ने पूछा—"तेरे घर
और कौन जन है भला ?"
"एक मात्र माँ" सुनकर उससे
बोले नबी—"नहीं नहीं,
माँ के पैरों तले स्वर्ग है,
जा, तू पा उसको वहीं।"

साक्षी

मैं बदर का युद्ध-बन्दी एक,
कर नहीं पाता यथार्थ विवेक।
देख हजरत-सैन्य का व्यवहार
जीत मैं अपनी कहूँ वा हार?
ले चले वैरी हमें इस भाँति,
बन्धुओं को बन्धु ले जिस भाँति।
ऊँट-घोड़ों पर चढ़े हम लोग,
वे चले पैदल स्वयं श्रम भोग।
दे विविध भोजन हमें भरपूर,
खा रहे हैं आप वे खजूर।
धन्य हजरत के हृदय का भाव—
'विजित से भी हो भला बरताव।'

गर्व

एक अनुगत ने कहा सखेद—
"हाय! हजरत, इसमें क्या भेद,
मुकुट जिनके पद चूमें चाप,
सियें वे अपने जूते आप!
फातमा बीबी, रहते रात,
उठें, चक्की पीसें हा तात!
फूल जिन हाथों में गड़ जायँ;
उन्हीं में छाले पड़ पड़ जायँ!
क्षमा करिये मेरा अपराध,
हो उठी बाधा आज अबाध।
कोष रहते कर में भरपूर,
आप क्यों कृपण और यों क्रूर?"
बड़ी-सी दाढ़ी पर कर फेर,
हँसे हजरत उस जन को हेर।
"स्वस्थ हो मेरे व्यथित वयस्य,
नहीं इसमें कुछ गूढ़ रहस्य।

अभागी है, जो माने पाप,
काम करने में अपना आप।
करूँ क्यों मैं औरों की आस?
उठाऊँ सबके लिए प्रयास।
प्रेम-वश तुम्हें हुआ है रोष,
किन्तु क्या सचमुच मेरा कोष?
नहीं मेरा कुछ, प्रभु का सर्व,
इसीका तो है मुझको गर्व।"
चटाई पर पड़ने से नित्य,
और उसके गड़ने से नित्य,
पीठ बन गई चटाई आप;
हमीं पर है इसका अभिशाप।"
"न होती सिर पर नति की छाप,
उचित था तभी तुम्हें अनुताप।
नहीं गद्दी पर पड़ने हेतु,
लिया मैंने एकेश्वर-केतु।"

प्रमाण

पूछा हजरत ने मुआज से,
शासक बनना था जिसे—
"तुम अपना प्रमाण मानोगे
न्याय-निर्णयों में किसे?"
नतमस्तक होकर मुआज ने
उत्तर दिया—"कुरान को।"
"किन्तु विषय के योग्य न पाओ
यदि उसके आख्यान को!"
"तो रसूल को" सुन रसूल हँस
फिर बोले—"अच्छा कहो,
मेरा भी दृष्टान्त वहाँ यदि
ठीक ठीक घटता न हो?"
क्षण भर रुक बोला मुआज—"तब
मानूंगा निज बुद्धि को।"
"साधु साधु!" माना हजरत ने
उसकी अन्तः-शुद्धि को।

नमाज

खड़े हुए हजरत नमाज को
दक्षिणाभिमुख एक वार,
इसके पूर्व खड़े होते थे
उत्तराभिमुख वे उदार।
पूछा गया हेतु जब इसका
कहा उन्होंने निज विवेक—
"पूरब-पच्छिम-उत्तर-दक्खिन
सभी ओर वह ईश एक।"
इसी प्रकार एक अवसर पर
बोले वे प्रभु-प्रीति-पात्र—
"भूखा है भगवान भाव का,
उसे चाहिए भक्ति मात्र।
समदर्शी सर्वज्ञ हमारा
राज-राज-राजाधिराज,
अपनी अपनी भाषाओं में
पढ़ सकते हैं हम नमाज।"

प्रतिशोध

किसी जन ने किसीसे क्लेश पाया,
नबी के पास वह अभियोग लाया।
"मुझे आज्ञा मिले, प्रतिशोध लूँ मैं,
नहीं निःशक्त वा निर्बोध हूँ मैं।"
उन्होंने शान्त कर उसको कहा यों—
"स्वजन मेरे! न आतुर हो अहा! यों।
चले भी तो कहाँ तुम, बैर लेने?
स्वयं भी घात पाकर घात देने?
क्षमा कर दो उसे, मैं तो कहूँगा,
तुम्हारे शील का साक्षी रहूँगा।
दिखाओ बन्धु, क्रम-विक्रम नया तुम;
यहाँ देकर वहाँ पाओ दया तुम।"

यहूदी

जाता देख एक शव हजरत उठ हो गये खड़े,
इस पर उनके कुछ अनुवर्ती विस्मित हुए बड़े।
"यह मृत तो था एक यहूदी!" कोई बोल उठा,
सुन कर अस्वीकृति से उनका मस्तक डोल उठा।
"तात, यहूदी भी मनुष्य हैं, जैसे और सभी,
हम भी ऐसे ही जावेंगे सब कुछ छोड़ कभी!
उसका गुण-स्मरण ही अच्छा, जो जन चला गया,
सबके लिए रहे हम सबमें आदर और दया।"

स्वस्ति

"जो एक स्रष्टा में करे साझी किसी भी अन्य को
सौ शाप हजरत, आपके उस पापजड़ित जघन्य को।"
सुन एक जन से ये वचन बोले नबी उससे वहीं—
"भेजा गया हूँ स्वस्ति लेकर, शाप लेकर मैं नहीं।"

पाप की स्वीकृति

"दे रहा है भीतर ही भीतर तुम्हें जो ताप,
बाहर निकाल दो गिरा से वह गुप्त पाप।"
सुन यों नबी से सिर एक जन का झुका,
किन्तु निज पाप वह कह कर ही रुका।
लज्जित जो देखा उसे, यों कहा उमर ने—
"जायँ अहा! आप ही क्यों लोग लाजों मरने?"
बोले नबी—"चोर बनने से परलोक में,
रहना भला है यहाँ लज्जा और शोक में।"

नबी के निर्देश

जब तक कन्धों पर चढ़ा धन के मद का भार,
सहज स्वर्ग की सीढ़ियाँ कैसे होंगी पार?
ज्ञान-लाभ के अर्थ जो, छोड़ गया निज गेह,
पथिक स्वर्ग के मार्ग का है वह निस्सन्देह।
ज्ञानी की मसि का कहीं कौन करेगा मोल,
बलिदानी का रक्त भी नहीं भरेगा तोल।
जो स्वजाति का भी कभी लेता अनुचित पक्ष,
जान-मान कर बन रहा वह पापी प्रत्यक्ष।
जो अनीति के युद्ध में खोता है निज प्राण,
मैं अपने दल का उसे दूँगा नहीं प्रमाण।
एक बार जो भूल कर फिर न करे दुष्कर्म,
तो आता है लौट फिर गया हुआ भी धर्म।
जहाँ पितर सन्तुष्ट हैं प्रभु दुगने सन्तुष्ट,
जहाँ पितर जन रुष्ट है, प्रभु हैं दुगने रुष्ट।
करती है विद्या सुगम स्वर्ग-लोक का पन्थ,
निःश्रेयस-सोपान-से समझो तुम सद्ग्रन्थ।
पर-धन-हारी, मद्यपी, व्यभिचारी, ठग, चोर,
'मोमिन' हो सकते नहीं कामी, कुटिल, कठोर।

खोटों से भी तुम सदा करो खरा बरताव,
डालेगी उन पर यही शिक्षा बड़ा प्रभाव।
देख किसी जन को यहाँ अबल, अकिंचन, दीन,
इसीलिए मानों न तुम उसे स्वधर्म-विहीन।
एक भूल करके नहीं होता कोई भ्रष्ट,
अनुचित है देना उसे कुछ सामाजिक कष्ट।
करके प्रभु का ध्यान जो पी जाता है रोष,
पीता है वह जगत में मानों अमृत अदोष।
हृदय नम्र होता नहीं जिस नमाज के साथ,
ग्रहण नहीं करता कभी उसको त्रिभुवननाथ।
जो कुछ करना हो उसे करलो यहाँ तुरन्त,
अवधि बहुत ही अल्प है, क्या जानें, कब अन्त।
चाहो जो अपने लिए, वही और के अर्थ,
केवल स्वार्थ विचारना है अत्यन्त अनर्थ।
प्रभु ने दो दो कर दिये करो कमाई आप,
पराधीनता - सम नहीं और दूसरा पाप।
सद्गुण को समझो सदा खोया रत्न विशाल,
पाओ तुम उसको जहाँ अपनाओ तत्काल।
झूठे गौरव का मुझे तुम न बनाना पात्र,
मैं हूँ उस जगदीश का दूत और जन मात्र।

सफीया

आठवीं पत्नी नबी की मैं सफीया नाम की ,
भाग्य मेरा, मैं हुई जो भागिनी उस धाम की ।
स्नेह ही सबके सदृश पाया नहीं मैंने वहाँ ,
लोक में औदार्य इतना सहज सम्भव था कहाँ ?
प्रथम ही मैंने कही उनसे कथा यह मर्म की—
'देव, यह दासी तुम्हारी है यहूदी धर्म की ।'
मौन वे क्षण भर रहे सहसा किसी में लीन-से ;
स्वस्थ होकर अन्त में बोले धनी इस दीन से ।
"धर्म हैं सो धर्म हैं जो पन्थ हैं सो पन्थ हैं ,
एक ने सबके लिए भेजे यहाँ निज ग्रन्थ हैं ।
बस उसीके मन्त्र से चलते हमारे यन्त्र हैं ।
स्वमत के सम्बन्ध में हम सब समान स्वतन्त्र हैं ।"

आयशा

पाकर मैं यह आयशा स्वयं नबी-सा नाथ,
पा न गई क्या क्या यहाँ रहकर रीते हाथ।
एक पंक्ति में है यही उनका जीवन मर्म—
जन थे वे उस एक के, धन था उनका धर्म।
बीते कभी कभी अहा! रीते दिन क्या, मास,
चक्की-चूल्हे के हमें जाना हुआ न पास!
पीकर पानी और बस खाकर यहाँ खजूर,
कौन कहे उठ वे कहाँ पहुँचे कितनी दूर!
पत्थर बाँधे पेट से काट दिये दिन रात,
स्वामी ने जाने न दी बाहर घर की बात।
कभी उन्होंने एक दिन लिये नहीं दो स्वाद,
उनको था आह्लाद ही हमको रहे विषाद।
मेरे रख छोड़े रहे थोड़े से दीनार,
नहीं अन्त में सह सके वे उनका भी भार।
एक भेड़-बकरी नहीं, क्या घोड़ा, क्या ऊँट,
घर क्या, सूने कर गये वे ये चारों खूँट!
देने आये थे यहाँ, लेते क्या वे आप?
रहे अकिंचन ही धनी, गये मुक्तिपथ माप।

वरण

कहा उमर से अबूबक्र ने
अपना अन्तिम समय निहार—
"बन्धु, चला निश्चिन्त सौंप मैं
तुम्हें खिलाफत का सब भार।"
"नहीं खिलाफत, उमर चाहता,
बड़ी तुम्हारी उम्र उदार!"
उत्तर मिला—"परन्तु खिलाफत,
तुम्हें चाहती है इस बार।"

अभियोग

रोम के सम्राट की प्रतिमूर्ति देख समक्ष,
अरब-योद्धा ने उसे भी कर लिया निज लक्ष!
फोड़ शर से आँख उसकी वह हँसा सन्तुष्ट,
रो सके केवल पराजित अवश रोमन रुष्ट।
थी न निज अपमान की ही आज उनको ग्लानि,
खल रही थी साथ ही अनुपम कला की हानि।
था खलीफा का जहाँ प्रतिनिधि, गये कुछ लोग,
धैर्य से उसने सुना उनका उचित अभियोग।
फिर कहा—"समवेदना मेरी तुम्हारे साथ,
मूर्ति तो बिगड़ी, बना है न्याय मेरे हाथ।
गढ़ खलीफा-मूर्ति तुम भी, स्वरुचि के अनुसार,
आप चाहो तो करो उससे वही व्यवहार।"

औदार्य

"हार मान कर भी अरबों से
जेरुशलम का पुरुष प्रधान,
कहता है सोफ्रोनियास यों—
'यह है प्रभु ईसा का स्थान।
इसे सौंप सकते हैं हम तो
स्वयं खलीफा के ही हाथ।'
आया यह संवाद समर से
क्या आज्ञा होती है नाथ?"
सुनकर कुछ क्षण नीरव रह कर
बोले फिर यों उमर महान—
"विपक्षियों के भी भावों का
रखना होगा हमको ध्यान।"
वे प्रस्तुत हो चले साथ ले
कुछ खर्जूर और जल-पात्र,
अरब-सीरिया-फारस-पति थे
लिये हाथ में लकुटी मात्र।

चकित हुआ सोफ्रोनियास—"यह
भूपति है वा भिक्षु-विशेष ?"
फिर भी भाव असाधारण था,
हो उनका साधारण वेष।
पाकर प्राप्य समादर अपना
किया उन्होंने पुरी-प्रवेश,
हुए आप ही आकर्षित वे
देख एक अनुपम-सा देश!
पड़ा एक गिरजा पथ में तो,
खड़े हो गये वे क्षण काल,
भीतर ले जाकर दिखलाया
उन्हें प्रमुख ने शिल्प विशाल।
"अब नमाज का समय होगया"
बोल उठे वे कुछ क्षण बाद;
कहा प्रमुख ने—"पढ़ें यहीं पर
* याद श्रीमन् मानें न प्रमाद।"
"बन्धु, मुझे आपत्ति नहीं कुछ,
फिर भी होता है यह ध्यान—
बना न लें गिरजे को ममजिद
मुसलमान पीछे हठ ठान।"

यह उत्तर दे बाहर आकर
भावुक रागद्वेष-विहीन,
हुए सीढ़ियों के नीचे ही
निज उपासना में वे लीन।

पतिव्रता

योगासन भी यहाँ अन्त में
भोगासन बन जाते हैं,
पितर जनों की परम्परा हम
कहाँ एक-सी पाते हैं?
ठीक यही गति आप इतर जन
जाकर हमें दिखाते हैं;
सुलेमान के बाद दूसरे
उमर खलीफा आते हैं।
कर सकती संस्कार नहीं असि,
किया करे संहार भले।
कला-विमुख भी रखते थे वे
अन्य अनेक विचार भले।
स्वयं लोभ से रहित प्रजा की
ऋद्धि-सिद्धि के अभिलाषी,
न्यायी भी वे दयाशील थे,
दृढ़चरित्र भी मृदुभाषी।

ईसा - मूसा के भक्तों की
लूट उन्होंने लौटाई,
इधर स्वयं अपनी पत्नी के
पास नहीं छोड़ी पाई।
हँस कर ही गृहिणी ने गिन कर
सौंप दिये सारे गहने—
"मैं तो जो हूँ वही रहूँगी,
पहने और बिना पहने!"
धर्म-कोष में पड़ी रही वह
सारी की सारी माया;
किन्तु खलीफा के मरने पर
कोषाध्यक्ष उसे लाया।
देख विपुल धन-रत्न-राशि वह
पतिव्रता ने कहा यही—
"आज अर्थ क्या इसका, जब यह
उनके रहते व्यर्थ रही?"

स्वदेश

बेड़ा लेकर चालीस अम्बुयानों का
पहुँचा किरीट दल एक मुसलमानों का।
थी वहाँ अतरु मरु धरा न धू-धू करती,
खिल उठे देख सब हरी-भरी वह धरती।
तट छोड़ विचरने गये सभी हर्षित-से,
लौटे संध्या के बाद समाकर्षित-से।
पर जलता पाया वहाँ उन्होंने बेड़ा,
वे गरजे—"किसने कालनाग यह छेड़ा?"
दलपति ने बढ़कर कहा—"सुनो हो भाई,
मैं हूँ वह, जिसने आग अशंक लगाई।
तुम यहीं रहो, तज सोच अरब का सारा,
हम आप जहाँ, बस वहीं स्वदेश हमारा।"

सन्त-वाणी

मेट सकते हो तुम्हीं निज पाप-ताप, निदान ,
तीर्थ पाकर ही न बैठो तोष मन में मान ।
शुद्ध होकर तुम जहाँ विचरो वहीं कल्याण ,
स्थान से बनते नहीं जन, आप जन से स्थान ।

× × × × ×

उस स्वप्न-सा यह लोक है ,
भय और जिसमें शोक है ।
परलोक है वह जागना ,
आनन्द का जो ओक है ।

—हयहया ।

माँ-बेटी

कहा हयग्रीवा की तनया ने—
"माँ, यह दे, वह दे मुझको।"
माँ बोली—"माँगना उचित है
मुझसे वा विभु से तुझको?"
कहा सुता ने—"माँ, महान से
तुच्छ वस्तु का लेना क्या?
और बता, तेरा देना भी
नहीं उसीका देना क्या?"

न्याय

"दिल्ली के सुल्तान, दुहाई ! कहाँ जाय यह दास ?"
एक अकिंचन रोता आया शेरशाह के पास।
"हम दीनों की स्त्रियाँ क्या करें, कहें स्वयं श्रीमान,
करते हैं युवराज आप जब अब उनका अपमान।
अबलों की अबलाओं को क्या रूप-रंग भी शाप ?
पाप विधाता करे और क्या दण्ड सहें वे आप ?
मारें या पालें सेवक को, स्वामी आप समर्थ,
नहीं धर्म, कुल और मान क्या कुछ अधनों के अर्थ ?"
शेरशाह सुन सन्न होगया नत करके निज भाल,
हुए परन्तु दूसरे ही क्षण उसके लोचन लाल।
डाली दृष्टि पुत्र पर उसने करके निज भ्रू-भंग,
था होगया प्रथम ही जिसके मुहँ का रंग कुरंग।
मौन देखकर उसे और भी वह हो उठा कठोर,
"समझ लिया" कह देखा उसने सभासदों की ओर।
कहने चला एक जन कुछ तो उसे हाथ से रोक,
बोला यों अपराधी सुत का न्यायी पिता सशोक।

"बन्धु, व्यर्थ मेरा विषाद है और तुम्हारा वाद ,
मान्य खलीफा का न्यायासन मुझे आ रहा याद ।
नदी-तीर, बगदाद नगर के बाहर, वन में, दूर ,
कुटी-वासिनी एक अविधि थी, छविनिधि से भरपूर ।
दोपहरी में लेटी थी वह बन्द किये निज द्वार ,
बाहर से सुन पड़ी अचानक उसे अधीर पुकार ,-
"मैं हूँ, जिसे खड़ा रहना भी चढ़ना एक पहाड़ ,
आर्त्त अतिथि को टुक आश्रय दो,खोलो बन्धु, किवाड़ ।'
झाँक झषदृषी ने उठ देखा—एक तरुण विक्रान्त ,
अश्व-सहित घर्माक्तकलेवर अरुणवदन अति श्रान्त ।
शंका के ऊपर उठ उभरा उसका सकरुण भाव ,
द्वार खोल बढ़ बोली सुमुखी—"आओ भाई, आव ।"
उसे देखते ही मूर्च्छित-सा आगत हुआ सचेत !
मिला खाट की ओर अधिक-सा उसे सुकर-संकेत ।
बैठ गया वह और सुन्दरी भीतर हुई प्रविष्ट ,
लाई शीघ्र सुगन्धित शीतल सलिल शर्करा-मिष्ट ।
"मधुर भाव ही शुभे, तुम्हारा था मुझको पर्याप्त ,
रोम रोम शीतल है मेरा तदपि तृषा से व्याप्त !
यहाँ कौन तुम रहती हो यों, विस्मित मैं यह सोच ,
निर्भय निज परिचय दो मुझको, रहने दो संकोच ।"

"श्रीमन्, एक वीर-वनिता मैं, पर अभागिनी हाय !
जीवन यापन करती हूँ अब निर्जन में निरुपाय।"
"आहा ! किन्तु स्ववश है अब भी सुतनु, तुम्हारा भाग्य,
वंचक ही होता है बहुधा यौवन का वैराग्य।
मान्य खलीफा का आत्मज युवराज आप अब्बास
प्रिये, तुम्हारा प्रार्थी हूँ मैं, मानो तुम विश्वास।"
बढ़ा दिये यह कहकर उसने आतुर दोनों हाथ,
पर पीछे हट गई भामिनी घूम घृणा के साथ।
धरने चला उसे तब कामी, बोल उठी वह काँप—
"इसीलिए क्या दूध पिलाया मैंने तुझको साँप !"
झपट निकल दौड़ी झट घर से सरिता तट की ओर,
आ पकड़ा पीछे से खल ने अंचल पट का छोर !
लौट पड़ी सिंही-सी साध्वी. बना रूप विकराल,
"नर न सही, नारी तो हूँ मैं, शव तो नहीं शृगाल !"
तड़प तीक्ष्ण तड़िता-सी तत्क्षण, अधर चाँप, पद रोप,
दीखी गला दबाती अरि का उभय करों से कोप !
रुद्धकण्ठ हो अवश अधर्मी पड़ा धूल-सी चाट ;
भाग घुसी विधवा फिर घर में, लगे तुरन्त कपाट।
इसी समय अश्वों के रव से गूँज उठा वह प्रान्त,
धूल झाड़ अब्बास आप भी उठा आर्त्त उद्भ्रान्त।

H1061

उसे देख मृगया के बिछुड़े साथी हुए प्रसन्न,
होना पड़ा किन्तु विधवा को पीछे पुनः विपन्न।
खो बैठी घर भी अपना वह वरहीना इस बार,
किया एक दिन राजजनों ने आ उस पर अधिकार।
"जाय, धरा-धन-धाम गया तो, अक्षत रहा सुधर्म।"
डरे किसे सच्चा धार्मिक जन, करे क्यों न निज कर्म?
खड़ी हो गई थी कुलबाला ज्यों युवराज-विरुद्ध,
राजशक्ति के भी विरुद्ध उठ खड़ी हुई वह क्रुद्ध।
भरी खलीफा की थी अनुपम राजसभा भरपूर,
गुणी और ज्ञाता थे जिसमें कृती, व्रती, बुध, शूर।
जा पहुँची पागल-सी प्रमदा बाधा-विघ्न न मान,
प्रकट देवदूती-सी दयिता पड़ी सभीको जान!
सुना गई तर्जनी तानकर वह वृत्तान्त विशेष,
रहे देखते उसका मुँह सब अचरज से अनिमेष।
"उचित न्याय करके उत्तर दें मुझे स्वयं सम्राट,
अथवा देखूँ प्रभु-समक्ष मैं अन्तिम दिन की बाट?"
बोला तब युवराज किसी विध–"इसका साक्षी कौन?"
"मैं हूँ" आप खलीफा बोले—"उठ, प्रतिवादी, मौन।
जा, वादी के साथ खड़ा हो" कहा उन्होंने रूठ
"ऐसी निर्भय वाणी भी क्या हो सकती है झूठ?

सच कहने में भी डरती है अबला ऐसी बात ;
झूठ कहेगी फिर कैसे वह कोई वैसी बात।
इतनी भी आशा क्या तुझसे करूँ न मैं इस बार ,
पाप कर्म करके तू उसको करे सहज स्वीकार ?"
एक सभ्य ने कहा "देव, यह कैसी आज्ञा आज ?
कहाँ एक साधारण युवती, कहाँ मान्य युवराज ?
किन्तु खलीफा की वैसी ही बनी रही भ्रू वंक—
"न्याय की के सम्मुख समान हैं दोनों—राजा-रंक।"
आज्ञा अटल रही, अपराधी उठा अवश नतभाल ,
किन्तु खड़ा रह सका न वह, गिर पड़ा काँप तत्काल।"
शेरशाह रुक देख पुत्र की ओर पुनः सक्रोध ,
बोला फिर अपने प्रार्थी से देकर उसे प्रबोध।
"आज्ञा देता हूँ मैं तुमको, अन्तःपुर में जाव ,
और करो इसकी गृहिणी से तुम यथेच्छ बरताव।"
काँप उठे सब सुनकर उसका गुरु-गभीर घन-घोष ;
"क्षमा-क्षमा!" बोला प्रार्थी ही—"युवराज्ञी निर्दोष।"
शेरशाह ने कहा—"क्षमा का सुजन, तुम्हें अधिकार ,
अस्तु और जो कहो, करूँ मैं, हो जिससे परिहार ?
जो है प्राप्य तुम्हारा उसका करो भले तुम त्याग ,
पति के पाप-पुण्य दोनों में पत्नी का भी भाग!"

"मैंने सब भर पाया स्वामी, और क्या कहूँ हाय !
सुन लूँ मैं बस यही—हुआ क्या उस नारी का न्याय ?"
"छोड़ दिया नर होकर तुमने अपना आप अराति ,
फिर वह तो थी दया-क्षमा की निधि ही नारी जाति ।"

अकबर

प्रकट त्रिवेणी-तट के मन में
एक और संगम की चाह,
हिन्दू-मुसलमान का मानस-
मिलनतीर्थ वह महाप्रवाह।
राम-रहीम-धाम होगा तब
वही दुर्ग, संहत सन्नाह,
उस मंदिर का आदि पुजारी
स्वयंसिद्ध तू अकबर शाह!

प्राप्ति

जानते जिसको नहीं इंजील-से पोथी-पुरान,
गूढ़ पुण्यस्पृश्य जिसको मानता है शुभ कुरान।
आज मैं दारा वही निधि पा गया, पावे जहान,
आर्य ऋषियों की अहा! वह उपनिषद्विद्या महान!

ताज

अद्भुत-अघट-अघोर-तन्त्र-सा
मरघट में अंकित तू ताज !
दिव्य सान्त्वना साध रहा है
तुझमें पार्थिव शोक विराज ।
नमस्कार तुझको, मुझको इस
वैभव में लगती है लाज ,
मोती कहाँ, यहाँ आँसू ही ,
मैं क्या भेट चढाऊँ आज ।

कर्बला

कर्बला

राम जिसे मिल जाय, उसे मोह क्या माया ?
पाकर ऐसा पुरुष क्या नहीं किसने पाया ?
ईसा, मूसा और मुहम्मद-सा जो आया,
समय समय पर एक सँदेसा ही वह लाया।
आपस में ही जूझ अरब मर कर मिट जाते,
यदि ईश्वर के दूत मुहम्मद वहाँ न आते।
"वैरी हो वा बन्धु, विचारो तुम विवेक से,
एक ईश के अखिल जीव आत्मीय एक से।"
कौन अपरिचित पन्थ अचानक यहाँ चुनेगा ?
पूर्व विचार-विरोध सहज ही कौन सुनेगा ?
मानी गई परन्तु अन्त में कुल-कल्याणी,
प्रभु से प्रेरित सन्त पुरुष की अन्तर्वाणी।
मक्के से था मिला जिन्हें पहले निष्कासन,
सौंपा उनके हाथ मदीने ने निज शासन।
आप अकिंचन रहे देशपति हो कर भी वे;
समाधिस्थ-से जाकरूक थे सो कर भी वे।

एक सूत्र में बँधी जाति उनसे अरबों की,
न्यौछावर धन-राशि हुई अरबों-खरबों की।
किन्तु फातमा सुता आतमा उनकी पक्की,
कच्चे हाथों आप चलाती अपनी चक्की।
उनके निज कुल-बन्धु अली को थी वह ब्याही,
दो पुत्रों की प्राप्ति हुई जिससे चितचाही।
वे थे हसन-हुसैन, रूप राजा-राना के,
जिनके घोड़े बने आप कन्धे नाना के!

राज्य रजोमय, किन्तु मुहम्मद थे सद्भागी;
हो सकते हैं सभी लोग क्या ऐसे त्यागी?
करके अपना कार्य गये वे वार्त्तावह जब,
उनका प्रतिनिधि कौन बने, यह प्रश्न उठा तब।
अबूबक्र थे ससुर और उनके चिर संगी,
पर जामाता अली आदि अनुगत अति अंगी!
रखते थे अधिकार उमर भी आप न थोड़ा,
अबूबक्र के अर्थ उन्होंने उसको छोड़ा।
ज्यों ही उनका हाथ उन्होंने बढ़ कर चूमा,
हुआ प्रभावित और उधर ही जनमत घूमा।

उदासीन थे आप उदार अली अनुपस्थित,
दो पक्षों में किन्तु लोग होगये विभाजित।
सुन्नी-शीया अलग अलग संगठित यहीं से,
मदह सहाबा और तबर्रा पठित यहीं से।

भीतर भीतर कलह चला चाहे गृहदाही,
बाहर विजयी रहे अरब नव धर्म्मोत्साही।
बढ़ा राज्य के साथ धर्म्म भी रणधीरों का,
मरु ने पानी पिया मोतियों का, हीरों का!
बुझी न इससे तृषा और भी तृष्णा जागी,
रागसंग्रही राज्य, धर्म्म हो चाहे त्यागी।

दिया अन्त में अबूबक्र ने स्वपद उमर को,
प्राप्त हुआ प्रतिदान उचित ही उस गुणधर को।
निर्वाचक ही हुआ अन्त में यों निर्वाचित,
मिली अतुल जयकीर्ति लोक में उसे अयाचित।
विजयी जो हो, विजित-निकट है अत्याचारी,
एक बद्ध रिपु हुआ उमर का हत्याकारी।

तदनन्तर उसमान खलीफा हुए अरब के ,
पर वे भी विश्वास-पात्र हो सके न सबके ।
गई उमर के साथ पूर्व की परम्परा भी ,
आडम्बर परिपूर्ण हुई अब अरब-धरा भी ।
भले रमानी पड़े कहीं सन्तों की धूनी ,
रहती नहीं विभूति कुटी लेकर ही सूनी ।
वह पर था, निज नहीं, उमर को जिसने मारा ,
निहत हुए उसमान आप अपनों के द्वारा ।
पात्र - विरोधी - पक्षपात उनको ले डूबा ,
विद्रोही है कौन ? भार से जो है ऊबा ।

अरब-जाति को आत्म-कलह ने फिर आ घेरा ,
आ न अली की ओर अवश लोगो ने हेरा ।
लिया खिलाफत-भार अनिच्छा से उस भट ने ,
उसे बाध्य कर दिया धर्म्म के ही संकट ने ।
किन्तु अवस्था पहुँच चुकी थी वहाँ यहाँ तक ,
जा सकती थी नहीं मनुज की शक्ति जहाँ तक ।
मान लिया उसमान-पक्ष ने अपने मन में ,
रहा अली का छिपा हाथ उनके हिंसन में ।

मुआविया सामन्त साम का उठ तन बैठा,
वह स्वतन्त्र ही नहीं, खलीफा भी बन बैठा!
चला महा गृह-युद्ध, बहा लहरा कर लोहित,
किन्तु धरा की रुधिर-तृषा कब हुई तिरोहित?
बली विशेष, परन्तु प्रकृति से सरल अली थे,
उधर विपक्षी कुटिल कूटपटु छँटे छली थे।
विजय-निकट ही अली पराजित हुए अगत्या,
मसजिद में ही हुई एक दिन उनकी हत्या!

अधिकारों की लोभ-लालसा सबसे न्यारी,
हत्यारों में हुई खिलाफत भी हत्यारी।
हाय! हसन से भी न भाग्य फिर उसके जागे,
वे विरक्त थे पिता अली से भी कुछ आगे।
लोभ-मोह-मद-रहित मुहम्मद के वे नाती,
किसी भाँति हो सके न अपनों के अपघाती।
हो सकती थी मुआविया पर जीत समर में,
उन्हें सन्धि ही रुची, शान्ति हो जिससे घर में।
मुआविया ने वचन दिया था उनको ऐसा—
"यह जैसा कुछ हुआ, उसे रहने दो वैसा।

मैं निज सुत को नहीं, खिलाफत तुमको दूँगा,
होगा नहीं यजीद, खलीफा मैं ही हूँगा।"
मुआविया था योग्य एक शासक के नाते,
पर यजीद में सभी विशेषण हैं सकुचाते।
उसे बना कर क्या न खुदा भी पछताया था,
खुद शैतान यजीद नाम रख कर आया था!
उसके काँटे सरल हसन क्या रह सकते थे?
वे कोमल वह क्रूर गरल कब सह सकते थे?
पर हुसैन क्या उसे खलीफा कह सकते थे?
उनका शोणित बहे, वे नहीं बह सकते थे।

प्रजापात ही पतितराज - पातकशासन में,
धर्मासन अब पलट चुका था सिंहासन में।
फिर भी आया एक बार लोगों के मन में,
रहे खिलाफत शेष नबी के ही निज जन में।
साहस कूफा नगरवासियों ने दिखलाया,
दूत भेज हठ कर हुसैन को वहाँ बुलाया।
"हम यजीद को नहीं, आपको ही मानेंगे;
और आपके लिए मरण जीवन जानेंगे।'

जायँ न जायँ, हुसैन सोच में पड़े, करें क्या ?
राज्य जाय, जन-धर्म-हानि से भी न डरें क्या ?
"किन्तु जनों की मनोवृत्ति अब कहाँ ठिकाने ?
यहाँ आज यह दशा, किसे हम अपना माने ?
हा ! नाना को गये अभी दिन ही कै बीते,
खोकर उनका दिया होगये फिर हम रीते ?
मरु-वर्षा ही हुई धर्म की धारा क्या वह ?
दुगुने बल से रुद्ध रूक्षता उठी भयावह।
धन के पीछे आज धर्म भी हम खो बैठे,
सीमित वे गृह-कलह और व्यापक हो बैठे।
हुआ लोभ से मोह, मोह से भय अब आया,
मृत्यु-संग भी कभी हमें जो दबा न पाया।
किस प्रकार मैं सुनूँ जनों के वचन वहाँ पर,
देख रहा हूँ कर्म क्रूर, मन कुटिल जहाँ पर।
आप नबी के निकट बन्धुओं के जो घातक,
वे कर सकते नहीं लोक में कब क्या पातक ?
बकरी हो की लूट गनीमत जिन लोगों में,
वे तामस दयनीय भूल राजस भोगों में।
किन्तु उन्होंने घात किया है जैसा हमसे,
क्या वे उसकी क्षमा पायँगे उस सक्षम से ?

खेद भले ही रहे, उचित है रोष मुझे क्या ?
बने आप ही अविश्वस्त जन, दोष मुझे क्या ?
वे जानें, यदि लोग जानते हुए न माने,
अपने प्रभु को लिये ठीक मैं इसी ठिकाने।
न सही मैं गुरु, रहा एक ईश्वर का जन तो,
भटके कोई भ्रान्त, शान्त है मेरा मन तो।
मेरा पद है यही—मुहम्मह का मैं नाती,
छीन सकेगा इसे कौन उन्मद उत्पाती ?
मैं प्रहरी बन रहूँ, जहाँ सोये हैं नाना,
जावे गौरव, नहीं कहीं भी मुझको जाना।

अन्य पक्ष भी किन्तु यहाँ रक्षित है इसका,
इह लौकिक कर्तव्य लक्ष लक्षित है जिसका।
हमने निज परमार्थ भले ही यहाँ बनाया,
पर जगती ने हमें जन्म देकर क्या पाया ?
तन प्रभुवर के लोक कार्य में, मन प्रभुवर में,
जन का जीवन तभी सफल है सचराचर में।
वे भी निज, जो आज आप पर बने हमारे,
अपने ही-से पुण्य-पाप अपनों के सारे।

उन्हें विरोधी देख आज क्या अलग रहूँ मैं ?
या उनका संघर्ष उन्हींके लिए सहूँ मैं मैं ?
हुए अन्त में सफल यही कर मेरे नाना,
किन्तु उन्हींका काम न था क्या उसे निभाना ?
भिन्न शक्तियाँ तथा प्रकृतियाँ सब लोगों की,
और उन्हीं पर प्रवृत्तियाँ हैं उद्योगों की।
यदि सीधा सम्बन्ध मुझीसे यहाँ न होता,
तो चुप रह कर नहीं एक पल भी मैं खोता।
मन करता है, आज स्वयं प्रभु पर सब छोड़ूँ,
तोड़ा जब सम्बन्ध जनों ने, मैं क्यों जोड़ूँ ?
जो हो, तब तक यहाँ एक पथ कैसे चुन लूँ,
आत्मा का आदेश नहीं जब तक मैं सुन लूँ।"

किन्तु स्वप्न में स्वयं नबी ने उन्हें बुलाया,
कूफा से फिर दूत दुहाई लेकर आया।
"सब प्रकार हम लोग आपके साधक होंगे,
यदि न आयँगे आप, धर्म के बाधक होंगे।
ईश्वर साक्षी, नहीं आपको हमने छोड़ा,
आये जब हम शरण, आपने ही मुँह मोड़ा।

इस प्रसंग में दोष आपमें-हममें किसका,
निर्णय होगा वहीं न्याय के दिन क्या इसका ?"
अब हुसैन पर पड़ा धर्म संकट-सा आकर,
कुशल कहीं भी नहीं, न जाकर अथवा जाकर !
जाने की ही किन्तु अन्त में उनकी ठहरी,
सब स्वजनों को हुई चित्त में चिन्ता गहरी।
बोले वे—"अब यहीं भला कि चला जाऊँ मैं,
भले धर्म के नाम नितान्त छला जाऊँ मैं।
हो अलोभ, पर नहीं दीनता मेरे मन में,
मर्मभीरु से धर्मभीरु मैं भला भुवन में।
प्रेरक प्रभु की मुझे प्रेरणा टेर रही है,
किसी विजन में बैठ बाट बलि हेर रही है!"
"किन्तु स्वजन हम तुम्हें छोड़ कर कहाँ रहेंगे ?
बीतेगी जो जहाँ, साथ ही साथ सहेंगे।"
बोला मुसलिम बन्धु—"क्यों न पहले मैं जाऊँ ?
पाऊँ यदि सन्तोष वहाँ तो तुम्हें बुलाऊँ।"
"कैसे भेजूँ तुम्हें, न जाऊँ आप जहाँ मैं।"
"भेज रहे तुम कहाँ ? स्वयं जा रहा वहाँ मैं।"
हँस यों मुसलिम गया, उदासी सब पर छाई,
पर कूफा में नवस्फूर्ति-सी उसमें आई।

लोगों का उत्साह देख सन्तुष्ट हुआ वह,
जो था अपना पक्ष, और भी पुष्ट हुआ वह।
तब हुसैन को पत्र लिखा उसने आने को,
बहु संख्यक श्रद्धालु जनों के अपनाने को;

अब सकुटुम्ब हुसैन न जाते तो क्या करते?
क्या यजीद की धर्म्म-मान्यता सिर पर धरते?
आज निरापद न थी स्वयं निज पुरी मदीना,
माँग उठी थी शपथ उसीके अर्थ अधीना।
कूफा में भी इसी बीच उसके अधिकारी,
मचा उठे जन-दमन-दण्ड की मारा मारी।
त्रासक शासक सहें धर्म्म की भी क्यों सत्ता,
मानें उनकी स्वयं धर्म्म ही क्यों न महत्ता!
बना राजविद्रोह प्रजा का धर्म्म-विषय भी,
और प्रजा-भय पापराज्य-कृत निश्चित नय भी!
किन्तु दमन से बढ़ा और भी क्षोभ जनों में,
तब उपजाया गया साथ ही लोभ मनों में।
फली चाल यह और छली खल शासक फूले,
वर्तमान को देख लोग भावी को भूले।

मिटे राज-भय जहाँ, मिले धन और प्रतिष्ठा,
रख सकते हैं वहाँ विरल जन ही निज निष्ठा।

देख अतर्कित नया दृश्य यह पुरुष-पतन का,
माथा सहसा सदय हृदय मुसलिम का ठनका।
"हे परमेश्वर, ठगे गये हम" बोल उठा वह,
विकल इधर से उधर अडिग भी डोल उठा वह,
"क्या उपाय अब हाय! हुसैन न आवें जिससे?
आशा रक्खूँ यहाँ कौन सी क्यों कर किससे?
मैं मर जाऊँ भले, बचाऊँ उनको कैसे?
गया हाथ से निकल पत्र वह पत्नी जैसे!
ओहो! क्रय कर लिया धर्म्म को फिर यह धन ने,
तन के हाथों बेच दिया अपने को जन ने।
अरे, तुम्हीं हो वही, जिन्होंने हमें बुलाया?
तुच्छ लोभ में लोक और परलोक भुलाया?
कहो तुम्हीं क्या वही लोकनायक निर्मोही,
कल तक थे इस दस्यु-राज्य के जो विद्रोही?
पड़ी चाँद पर आज एक चाँदी की जूती,
और बजाने लगे इसी तस्कर की तूती!

उस ईश्वर के निकट तुम्हीं क्या अरे प्रमादी
वादी बन कर हमें बनाते थे प्रतिवादी ?
स्रष्टा-द्रष्टा वही, और क्या कहूँ अधिक अब,
यदि तुम भी ही मुसलमान, तो काफिर हों सब !"

फिरे हुओं ने और लजा कर मुहँ ही फेरा,
मुसलिम को बहुसंख्य सैनिकों ने आ घेरा।
राजद्रोही कहा गया वह निज मत-मानी,
पर उस प्रभु के निकट रहा निश्छल बलिदानी।
चक चौंधा कर खड्ग खींच कौंधा-सा खेला,
पर सौ सौ थे शत्रु और वह एक अकेला।
जूझा जिस दिन इधर कीर्ति लेकर वह अमलिन,
कूफा-यात्रा की हुसैन ने उधर उसी दिन।

साथी-संगी-स्वजन और वे स्वयं महत्तर,
यात्री-थे सब बधू बालकों सहित बहत्तर।
जो स्वतन्त्र भी चले घिरे-से ठगे-ठगाने,
उनके चारों ओर लगे थे अरि अनजाने।

जब कूफा आ गया एक दो दिन की गति में,
पहलो बाधा हुई उपस्थित उनकी यति में।
दस सौ सैनिक दीख पड़े सम्मुख अभिगामी,
उनका नायक एक चतुर नर था हुर नामी।
सबने समझा, स्वागतार्थ ही यह दल आया,
मिल कर हुर ने उन्हें और ही भेद बताया।
"होता मैं कृतकृत्य पहुँच कर स्वागत करने,
भेजा गया परन्तु विवश-सा तुमको धरने।
रखता था मैं मान तुम्हारे लिए प्रथम ही,
जो कुछ भी कर सकूँ आज, सो सब है कम ही।
सच कहता हूँ, धन्य भाग्य ही लेखा मैंने,
तुम्हें देखकर आप नबी को देखा मैंने।
मुझे मिले ही नहीं कहीं तुम, मैं कह दूँगा,
लौट सुरक्षित रहो, यही सुन हर्षित हूँगा।
इस पार्थिव के निकट रहूँ अपराधी चाहे,
उस दिवपति का नरकदण्ड तो मुझे न दाहे!
नहीं लोम से पुरस्कार के ही मुँह मोड़ा,
राज-रोष का भय-विचार भी मैंने छोड़ा।"
सुनते रहे हुसैन सन्न-से, मौन हुआ हुर,
धड़क वायु में उठा नियति का भी उर निष्ठुर।

"धन्यवाद !" ध्यानस्थ हुए फिर भावुक भोले ,
कुछ क्षण पीछे पहुँच एक निश्चय पर बोले—
"धन्यवाद हुर ! क्यों न अन्त ही आगे पाऊँ ,
छिप कर पीछे लौट कहो कैसे मैं जाऊँ ?"
"जैसे हजरत गये मदीने बच मक्के से ,
और विफल ही रहे बधिक हक्के बक्के-से ।"
"अपना जीवन-कार्य उन्हें करना था पूरा ,
पर मेरा प्रभु-मिलन अन्त के बिना अधूरा ।"
हुर निराश ही हुआ कठिन निश्चय सुन उनका ,
देखा उसने प्रथम पुरुष यह अपनी धुन का ।
"पुरस्कार भी गया, मुझे भी बचा न पाये !"
हँसने लगे हुसैन, अश्रु उसके भर आये ।
"बात नहीं कुछ बन्धु, तुम्हें चिन्ता करने की ,
मुझे न जीवन मोह, न इच्छा है मरने की ।
परिचालित दो पक्ष एक ही प्रभु के द्वारा ,
जो कुछ भी हो, मैं कृतज्ञ ही रहा तुम्हारा !
मेरा मुसलिम कहाँ और कैसे है सम्प्रति ?"
हुर बोला—"वह वीर पा चुका है अपनी गति !"
"भाई मेरे हाय !" गला उनका भर आया ,
सब कुटुम्ब पर शोक भावि-भय लेकर छाया ।

हुर ने फिर भी कहा—"लौट जाओ तुम अब भी ,"
"प्रभु की इच्छा पलट नहीं सकती है तब भी !
सुना यमन की ओर, पक्ष में मेरे कुछ जन ,
दल संग्रह कर रहे, मानता किन्तु नहीं मन ।
मुसलिम पहले गया, जहाँ मुझको जाना था ,
किन्तु लिखा तो आज यहाँ यह पछताना था ।
उसकी पत्नी और पुत्र से ही, मुहँ रहते ,
बनता मुझसे कहीं लौट जाने को कहते !"
"किन्तु एक पर खड्ग जहाँ बहुतों ने तोला ,"
मुसलिम का अनुरूप पुत्र अब्दुल्ला बोला—
"वहाँ तात का नहीं, उचित मेरा ही जाना ,
यही पुत्र की रीति, पिता की नीति निभाना ।"
"हाँ बेटा, कह चुका, तुझे रोकूँ मैं कैसे ?
पर जाने दूँगा न, गया ठग मुसलिम जैसे ।
वञ्चित मत कर मुझे आप उसकी थाती से ,"
उसे उन्होंने लगा लिया भुज भर छाती से ।
बोल उठा हुर—"हहह धन्य यह अदय सदयता ,
मैंने देखी नहीं कहीं ऐसी सहृदयता ।"
किन्तु उधर की बात सोच वह आप लजाया ,
कहना होगा—इन्हें घेर कर मैं ले आया ।

सेना-सहित नमाज उन्होंने उसे पढ़ाई,
फिर भय की ही ओर स्वहृय की बाग बढ़ाई।
प्रस्तुत था उस ओर क्रूर कूफा का शासक,
जो मोहक के साथ साथ लुब्धक-सा त्रासक।
पाते थे जो एक, उन्हें सौ देकर तोड़ा,
फिर भी जो सन्दिग्ध रहे उनका घर गोड़ा।
यों बाईस सहस्र सैन्य दल उसने जोड़ा,
मात्र बहत्तर के विरुद्ध फिर उसको छोड़ा!

यहीं कबला क्षेत्र अहा! देखो यह आगे,
चिर निद्रित भी जहाँ जान पड़ते हैं जागे!
नङ्गी होकर नची जहाँ वह दानवता है,
मर मर कर ही बची यहाँ यह मानवता है!
मात्र बहत्तर मनुज इधर ये डेरे डाले,
पशु बाईस सहस्र उधर वे लड़ने वाले।
उनके पीछे भरा फरात नदी का जल है,
स्वेद बहाता आप मरुस्थल ताप-विकल है!
मरीचिका ही दूर दूर है दृष्टि लुभाती,
किरण किरण है यहाँ कनी की अनी चुभाती।

हू हू करती हुई ब्यार भूभल भरती है,
धू धू करती हुई घूमती-सी धरती है!
"स्वामी! स्वामी!" हा! हुसैन की रानी भोली,
उन्हें बुलाकर भली शाहरबानू यों बोली—
"उड़ उड़ कर चुक चला भाप बन बन कर पानी,
नाथ, दैव ने आज न जाने कैसी ठानी।
उधर कपट के इधर लपट के भी हम मारे,
बच्चे कुम्हला चले फूल से हाय! हमारे।
फाँस रही हैं रोम रोम किरणों की फाँसें,
झुलसाती हैं ओंठ आप अपनी ही साँसें!
रह रह मूर्च्छा आज चेतना में जगती है,
देख धूप की ओर अँधेरी-सी लगती है!
तम्बू क्या, बन उठे आप तन भाड़ यहाँ पर,
फूलों-से भुन जायँ न सूखे हाड़ यहाँ पर।
मेरी ओर न हाय! नाथ, निज ओर निहारो,
निज जीवन पर तुच्छ मरण मेरा तुम वारो।
इधर प्रकृति से प्राप्त नहीं क्षुप की भी छाया,
उधर हमें उस परम पुरुष ने भी बिसराया!
यह भविष्य भी आज यहाँ हम सबने भोगा,
पर यह तो आरम्भ, अहो! आगे क्या होगा?

कैसे हम यह अजल अनल का सिन्धु तरेंगे ?"
"शुभे, भला ही भला भले भगवान करेंगे।
बहुधा मेरा भाव इसीमें है भरपाता—
मेरा कर्ता कुछ न आप मुझसे करवाता।
पर उसने कर्तव्य दिया तो क्यों न करूँगा ?
फिर भी अपने लिए नहीं मैं जियूँ-मरूँगा।
और बता दूँ तुम्हें, स्वप्न में नाना आये,
गोद दिखा कर मुझे उन्होंने हाथ बढ़ाये।
धर्मसंगिनी, सत्य क्यों न हो मेरा सपना ?
व्यर्थ न होगा किन्तु तुम्हारा यह तप तपना।"
खड़ी काँपने लगी बधू कुछ बोल न पाई,
हाथों से मुँह ढाँप रोकने लगी रुलाई।
"वीर बधू, सन्तोष प्राप्य है दानी मन को,
धर सकती थी गाड़ व्यर्थ क्या तुम निज धन को,
नरता को आ आज हिंस्र पशुता ने घेरा,
छोड़ जाय वह उसे पिण्ड पाकर यह मेरा।"
सिर पर कर धर और खींच छाती पर माथा,
वे मानो कर गये उसे आमरण सनाथा।
"माई !" सुने शिविर-कक्ष में वह चिल्लाई,
जैनब—उसकी ननद—टेर सुन दौड़ी आई।

सफल सान्त्वना-शब्द कहाँ रखती है भाषा,
स्थिर करती है हमें अन्त में वही निराशा।

अन्न बिना रह जाय भले ही कोई प्राणी,
पानी तक ही प्राण, परन्तु कहाँ है पानी?
सम्मुख ही यह रही नदी बहती भी ठहरी,
पर विपक्ष ने बिठा दिये हैं उस पर प्रहरी!
एक एक जन था हुसैन का दृढ़ अनुयायी,
उनमें भी अब्बास चचेरा उनका भाई।
जल लाने का कार्य उन्होंने उसे सहेजा,
देकर कुछ जन साथ विवश होकर ही भेजा।
'अरे कौन तुम?' कहा उधर प्रहरी ने ज्योंही,
'मैं हूँ' उसका बन्धु इधर था, बोला त्योंही।
'तू है? पीले, 'पर इमाम प्यासे हैं मेरे।'
'परवश हूँ मैं' 'किन्तु पुण्य यह वश में तेरे।'
बातें करने लगा इधर वह जन यों जब तक,
भर ली मशकें बीस उधर औरों ने तब तक।
रक्त पात के बिना भाग्य से जल भर आया,
पर वह कब तक त्राण तृषानल से कर पाया?

अन्तिम यत्न, रसूल-रत्न ने जो कहलाया,
उमर, विरोधी-बलाध्यक्ष, मिलने को आया।
बोले वे—"मर रहे हमारे बच्चे प्यासे,
अमर तुम्हारे बाल रहेंगे इस हत्या से?
फूल कुचल कर कहो निकालोगे तुम काँटे?
उमर, पड़ा यह पुण्य तुम्हारे ही क्या बाँटे?
कहते हो क्या मुसलमान तुम भी अपने को?
सुनूँ, कौन सा मन्त्र मिला तुमको जपने को?
सच्चा काफिर कौन, जान रक्खे जग सारा,
नबी यजीद मजीद, खुदा शैतान तुम्हारा!"
सिहर उठा सुन उमर दीन-सा उनके आगे,
बोला नतमुख युक्ति-हीन-सा उनके आगे—
"सचमुच रुचता नहीं मुझे यह जो होता है,
देख आपका दुःख हृदय रह रह रोता है।
परवश होकर बलाध्यक्ष भी मैं अशक्त हूँ,
कह सकता हूँ यही, क्रूर भी राज-भक्त हूँ।
"राज-भक्त तुम?" हँसी घृणा से उनको आई—
"ईश्वर का भी रहा तुम्हें अब भय क्या भाई?
राजा फिर भी वह यजीद-सा राजा, आहा!
किसने ऐसा धर्म-कर्म है यहाँ निराहा?

यह राजा तो अरे, कहो फिर कौन लुटेरा ?
पशुबल से धन-धाम दबा बैठा जो मेरा।
क्या तुमने भी स्वयं स्वेच्छया उसे चुना है ?
मैंने तो यह कहीं किसीसे नहीं सुना है।
होगी नहीं समाप्ति यहीं इन सब बातों की,
घातक भूलें नहीं प्रकृति उन प्रतिघातों की।
पुरस्कार में एक प्रदेश यहाँ पाओगे,
किन्तु वहाँ क्या, जहाँ अन्त में तुम जाओगे ?"
कहा उमर ने—"सत्व आपका साथी मन है,
पर यज़ीद के हाथ बिका यह पापी तन है।
नहीं आपका हाय ! स्वयं प्रभु का मैं दोषी,
पर समक्ष है यहाँ वही उद्धत उद्घोषी।
अपना जीवन-मोह छोड़ना ही दुष्कर है,
पर मुट्ठी में यहाँ उसीका मेरा घर है।
मैं कह सकता नहीं, क्लेश है मुझको कितना,
क्षमा कीजिए, त्याग असम्भव ही है इतना।"
"यह यथार्थ है और मानता हूँ मैं इसको,
इतनी आशा यहाँ उचित है किससे, किसको ?
रहा खेद ही मुझे तुम्हारे लिए हृदय से,
कर सकता हूँ क्षमा - विनय ही करुणामय से।

सुनूँ युद्ध के नियम तुम्हारे सन्धि-सहायी ?"
"हों यजीद के आप शपथ पूर्वक अनुयायी।"
"हूँ" कह कर हो उठे क्षोभ से कुछ अस्थिर वे ·
पर सम्मुख था उमर, शान्त हो बोले फिर वे।
"इस प्रसङ्ग में क्यों न उसीसे मैं बतियाऊँ,
और कहीं यदि नहीं शान्ति से जाने पाऊँ ?'
"प्रस्तुत हैं क्या आप यजीद-निकट जाने को ?
तब तो मुझको मिला मार्ग-सा बच पाने को।
मिलकर दोनों आप निवट लें चाहे जैसे,
मुझे न करने पड़ें कर्म अप्रिय ये ऐसे।
बँध कर भी बहु जन विरक्त हैं इस बन्धन से,
भक्त आपका आप यजीद-तनय भी मन से।"

लौट उमर ने लिखी दशा कूफा को सारी,
सहमत उससे हुआ उबैदुल्ला अधिकारी।
किन्तु उसीका एक सहायक सेना-नायक,
हुआ शिमर शैतान वहाँ बाधक भय-दायक।
"जँचता है मुझको हुसैन का छल ही इसमें,
वही करो तुम फिर न पड़े पछताना जिसमें।

अधुना वह आ फँसा जाल में विवश विकलतर ,
करे न कुछ उत्पात हाथ से कहीं निकल कर ।
उस मायिक को सिद्ध कौन सा मन्त्र न जानें ,
सुन ले उसकी बात और फिर कौन न मानें ?
जा दमिश्क में वह न नया षड्यन्त्र रचे कुछ ?
यहाँ-वहाँ इस बीच कहीं गड़बड़ न मचे कुछ ?
देख क्यों न लो यहीं स्वयं निज सैनिक गण को ,
चाह रहे हैं बहुत छोड़ जाना इस रण को ।
प्रतिबन्धों ने उन्हें रोक रक्खा ज्यों त्यों कर ,
हो सकता है फिर विलम्ब श्रेयस्कर क्यों कर ?
मिल सकता क्या कभी हमारा-उसका हित है ?
बात नहीं, आघात साथ उसके समुचित है ।"
सुन मानों मर गई उबैदुल्ला की नानी ,
बिलमा सका हुसैन-पक्ष में उमर न पानी ।

खोकर मानों खोज किसी भी उचित दिशा का ,
फैल रहा है अन्धकार सब ओर निशा का ।
हे हुसैन के सभा-दीप ! अब कहाँ सबेरा ?
हाय ! यहाँ अवशेष एक बढ़ना ही तेरा ।

अरी वर्तिके ! व्यर्थ न हो तेरा यह जलना ,
देख धर्म्म के और प्रेम के व्रत का पलना ।
निश्चल रह तू तनिक एक टक यहाँ लगा कर ,
सोई आशा जहाँ सुदृढ़ विश्वास जगा कर !
"सुनो बन्धुजन !" धीर गभीर गिरा वह गूँजी—
"विपक्षियों की एकमात्र पशुता ही पूँजी ।
मनुजोचित व्यवहार नहीं उनसे चल सकता ,
छला गया भी नहीं किसीको मैं छल सकता ।
जो सम्भव था किया किन्तु निकला कुछ फल क्या ?
अनुगत बनकर आज करूँ उसका वध कल क्या ?
धर्म्म छोड़ किस भाँति नीति की बात विचारूँ ?
शठ के प्रति भी, क्यों न साधुता ही मैं धारूँ ?
गुण क्यों छूटे, नहीं छूटता जब दूषण है ,
पाप-विजय से पुण्य-पराजय भी भूषण है ।
छींटे क्यों दे जाय न मेरा हृदय-रुधिर भी ,
यदि यह मूर्च्छित देश चेतना पावे फिर भी ।
ईश्वर साक्षी, नहीं व्यक्तिगत मेरी पीड़ा ,
देख स्वदेश-स्वजाति-पतन बजती है व्रीड़ा ।
कुछ न रहे हों और, सदा से शूर रहे हम ,
किन्तु देख लो आज क्रूर ही क्रूर रहे हम ।

आये थे जब यहाँ हमारे नबी न हममें,
तब भी थे हम सभी एक अनुपम संयम में।
शत्रु-मित्र मिल जहाँ व्रतों के मास बिताते,
शिशु भी प्यासे वहाँ आज हैं मारे जाते!
जिसने हमको पते दिये हैं सीधे-सच्चे,
जीते मारे जायँ हमींसे उसके बच्चे!
पथ-विहीन थे, पथभ्रष्ट अब हम हो बैठे,
उलटी अपनी आन-बान भी सब खो बैठे।
जो विषयों पर बिका, खलीफा आज हमारा,
जो पशु से भी पतित वही नरराज हमारा।
जो है उच्च पदस्थ, नीचता आचरता है,
देकर दुर्दृष्टान्त हमें दूषित करता है।
उसके मन में पाप, इसीसे वह शंकित है,
और हमें भी किये जा रहा आतंकित है।
शासन मानों बना चोर ही शाह यहाँ अब,
सत्यधनों का सहज कहाँ निर्वाह यहाँ अब?
अतिथि-समादर रहा जहाँ युग युग से सञ्चित,
वहीं आज आहूत बारि से भी यों वञ्चित!
जीवन का भी स्रोत शुष्क है आज हमारा,
माँग रहा है किसी श्रेष्ठ शोणित की धारा!

लेकर हमने एक लोभ छोड़ा है सबको,
रहे अरब ही अरब भूल हम अपने रब को!
यत्न महा तप और त्याग ही इस अवनति का,
मिला यही संकेत मुझे उस त्रिभुवनपति का।
जीवन का ही मूल्य जगत में सबसे भारी,
किन्तु तुच्छ क्या मुक्तिदायिनी मृत्यु हमारी?
नहीं महद्बलिदान बिना वह निष्कृति आती,
तो क्यों नाहीं करे मुहम्मद का यह नाती?
प्रस्तुत मेरे लिए बन्धु, तुम सब करने को,
पर मैं कैसे कहूँ यहाँ तुमसे मरने को?
मेरा ही आह्वान आज, तुम करो प्रतीक्षा,
फैले-फूले-फले तुम्हारी शिक्षा-दीक्षा।
सब जाने से रहे, किन्तु यह निश्चय जानो,
जो जाओगे, मुझे बचा रक्खोगे मानो।"
लोग हिले भी नहीं, रहे वैसे के वैसे;
वाक्य-शक्ति भी रुद्ध हो गई उनकी जैसे।
"बन्धु, बिछुड़ कर आज मिलेंगे हम सब फिर भी,
होगा अपना वही मिलन चिर और रुचिर भी।
काम नहीं कुछ व्यर्थ चक्षु-लज्जा का हम में,
लो, मैंने यह दीप बढ़ाया, जाओ तम में!"

कैसे कोई कहे वहाँ छागया अँधेरा ?
चौंक उठे सब लोग यथा आगया सबेरा।
"हा ! इमाम का साथ न दें तो हमीं अभागे,
अब तक पीछे चले, आज जावेंगे आगे !
अपना हमको आप त्यागने लाये थे क्या ?
हमीं आपको छोड़ भागने आये थे क्या ?
आप सरीखे सुमन संग कुछ पत्तों जैसे,
छोड़ें हम भी योग भेंट चढ़ने का कैसे ?
यह अच्छा ही किया, आपने दिया बढ़ाया,
कहाँ जायँ हम लोग, अँधेरा है जो छाया !"
भय में भी उन वीर जनों को हँसना भाया,
हँसे स्वयं शब्बीर, हृदय उनका भर आया।

गया न कोई उन्हें छोड़ मरने के डर से,
आये उलटे और नये कुछ जन बाहर से।
नमस्कार कर खड़े होगये सम्मुख आकर,
विस्मित हुए हुसैन उन्हें अपनों में पाकर।
"सुजन, कौन तुम और यहाँ पर कैसे आये ?
लौटोगे किस भाँति अभी हा ! थके थकाये ?"

"लौटेंगे हम कहाँ, आपके साथ रहेंगे,
वही हमारी कार्य, यहाँ जो आप कहेंगे।
सौ रूपों में एक भाव के ध्रुव विश्वासी,
हम भारत के आर्य, अरब के ही चिरवासी।
धर्मभूमि वह, कर्मभूमि है यही हमारी,
क्या निजत्व के नहीं आपके हम अधिकारी?"
"जो निज थे पर हुए आज उनमें बहुतेरे,
प्रभु का यही प्रसाद, बने पर भी निज मेरे।
किन्तु तात, तुम मिले आज मुझसे असमय में,
रक्खूँ कैसे तुम्हें यहाँ मैं ऐसे भय में?"
"हरण जहाँ हो स्वयं आपके अधिकारों का,
निश्चय भय है वहाँ अनय-अत्याचारों का।
यहाँ उसी भय के विरुद्ध हम युद्ध करेंगे,
आप सरीखे शुद्ध जनों के लिए मरेंगे।"
"पर मर कर भी बन्धु, मुझे न बचा पाओगे,
ऐसे प्यारे प्राण व्यर्थ ही खो जाओगे।"
"क्या कहते हैं आप, आज हम मौन रहें क्या?
पाप-राज्य की प्रजा बनें, अन्याय सहें क्या?"
"ऐसा है तो बन्धु क्यों न हिजरत कर जाओ,
जाकर अपनी धर्मभूमि पर वास बनाओ।"

"क्या विपत्ति में कर्मभूमि से हम मुँह मोड़ें ?
जन्मभूमि को अधर्मियों के हाथों छोड़ें ?
देकर जिसने जन्म पीढ़ियाँ यहाँ जिलाया ,
गोद खिलाकर हमें खिलाया और पिलाया ।
उसे छोड़ अधिकार किसे है इस जीवन का ?
जन्मभूमि के लिए मरण भी मङ्गल जन का ।
क्या हम मानें, आप हमें पर जान रहे हैं ?
अथवा केवल दयाधर्म पहचान रहे हैं ?
हम सहधर्मी न हों, आपके सहकर्मी हैं ,
अधिक और क्या कहें, आप मन के मर्मी हैं ।"
"प्राप्य यहाँ आत्मीय किसे तुम जैसे कितने ?
उतना ही शुभ, जियें यहाँ तुम जैसे जितने ।"
"धन्यवाद, पर व्यर्थ आपका मन भारी है ,
जीवन ही तो यहाँ मृत्यु का अधिकारी है ।"
"आवें ऐसे बन्धु विलक्षण दानी-मानी ,
और हाय ! हम दे न सकें भर भोजन पानी ।"
"चिन्ता करें न आप, हमें अवगत है यह भी ,
हममें जो गत हुआ, नहीं जल-वञ्चित वह भी ।
बहते हुए समीर-नीर में भाग सभी का ,
मर जाता अन्यथा अखिल संसार कभी का ।

घट भरने से हमें नदी-तट पर जो टोके,
वह पहले आकाश-वृष्टि होने से रोके!
ऐसों के घट-कण्ठ खिचें धन्वा की ज्या से,
अहो क्रूरता! मरें बधू बालक भी प्यासे।
और क्या कहें, आप घड़े ही मँगवा दीजे,
हम जैसों से तुच्छ सलिल-सेवा ही लीजे।"
"पानी लेने चले अहो! तुम रुधिर बहाकर,
ठण्ढे होंगे क्या न शत्रु ही नहा नहा कर?
वे क्या तुमसे एक एक कर भी निपटेंगे?
टूट झुण्ड के झुण्ड भेड़ियों से चिपटेंगे।"
"रखना होगा हमें रुधिर देकर भी पानी,
हिंसा हमने नहीं, उन्होंने हमसे मानी।
आप कहीं आघात नहीं करते हैं न्यायी,
बाध्य करें तो यहाँ आततायी ही दायी।"
"किन्तु अकेले तुम्हें कहाँ मैं जाने दूँगा?
मैं"—बोला अब्बास—"यहाँ पथ दर्शक हूँगा।"
पर जब तक ये जायँ, आप अरि ही बढ़ आये,
सौ सौ मिल कर एक एक पर वे चढ़ धाये।

युग पक्षों ने लक्ष्य किया सहसा विस्मय से,
बढ़ निकला हुर स्वजन-सहित आतुर ज्यों भय से।
स्वरित विपक्षसमक्ष त्वरित फिर लौट पड़ा वह,
हुआ यथा मध्यस्थ अश्व पर अड़ा खड़ा वह।
"रुको रुको हे मुसलमान, यह क्या करते हो?
उस प्रभु को भी नहीं हाय! क्या तुम डरते हो?
अरे, इमामहुसैन नबी के हैं ये नाती,
स्वयं तुम्हारे धरम-करम के परम सँघाती।
अपने ही से मान रहे ये पाप पराये,
ऐसे उच्च-उदार पुरुष किस किसने पाये?
तुम्हीं कहो, क्या किसी पाप ने इन्हें भुलाया,
ये वे, तुमने बार बार है जिन्हें बुलाया।
इन-सा वीर-गभीर-धीर क्या और अरब में।
सच पूछो तो यही एक सिरमौर अरब में।
पर अपनों के रक्तपात से घृणा इन्हें है,
ऐसे हैं ये, नहीं किसीसे द्वेष जिन्हें है।
स्वयं स्वत्व ये शान्त छोड़ बैठे हैं अपना,
सच्चा इनको वही लोक, यह केवल सपना।
निज पात्रत्व यजीद जँचा दे इन्हें यथाविधि,
तो प्रतिनिधि भी उसे मान लेंगे ये मतिनिधि।

रखते यदि ये कपट, यहाँ क्या यों ही आते ?
क्या ये ऐसे अबल, एक दल बाँध न पाते ?
किन्तु कहो, क्या यही अतिथि-सत्कार तुम्हारा,
ये प्यासे मर रहे, यहाँ रहते जलधारा ?
कुलस्त्रियों का दूध छातियों में सूखा है,
आँखों का कारुण्य आँसुओं का भूखा है !
शिशु क्या चूसें, विरस हुई रसना भी माँ की,
देखा अपनी आप क्रूरता की तुम झाँकी।
हतप्राय ये, इन्हें मार तुम क्या पाओगे ?
जीतेजी ही नहीं, मरे भी पछताओगे।
अत्र-तत्र-सर्वत्र तुम्हें सिर धुनना होगा,
अपना ही धिक्कार निरन्तर सुनना होगा !
प्रस्तुत ये फिर जाँय, भले तुम इन्हें न मानो,
देना मुझको दण्ड, दोष जब इनका जानो।
किन्तु जान लें, भ्रष्ट मरणजीवन है जिनका,
मेरे रहते, रोम नहीं छू सकते इनका।"
किन्तु कहाँ था ज्ञानविन्दु तक म्लेच्छ जनों में ?
पत्थर ही थे भरे पड़े उन प्रत्यय-घनों में।
पहले ही वे गरज उठे थे आतुर होकर,
अब हुए पर ही बरस पड़े अपना उर खोकर।

"निज वह पर से अधिक, पक्षपाती जो पर का,
समझो पहले उसे, वही भेदी है घर का।"
क्या आशा थी और शिमर जैसे उस खल से?
अन्यायी भी नीति-निरत बनते हैं छल से!
सुत-परिजन युत प्रथम जन्मफल हुर ने पाये,
अजल रुधिर के अश्रु हुसैन-दृगों में छाये!
क्रम से बलि हो गये सभी उनके करचुम्बी,
बाल वृद्ध तक बचा अन्त में कौन कुटुम्बी?
एक एक ने वहाँ बीसियों बैरी मारे,
एक एक के किन्तु सैकड़ों थे हत्यारे।
बधुओं के बर गये और बहनों के भाई,
छाती का भी लाल कौन माई रख पाई?
एक एक जन बिदा माँग स्वजनों से जाता,
जूझ जगत में कीर्त्ति, स्वर्ग में सद्गति पाता।
होकर भी अपने इमाम के आज्ञाकारी,
कह उठते प्रतिबार सभी—'अब मेरी बारी!'
सद्योविधवा बोल उठी—'बेटा, बलि जाऊँ,
दे तू शोणित-दान, दुग्ध निज मैं भर पाऊँ!'
कल जिसने नव बधू बरी थी जिस उमङ्ग से,
आज मृत्यु भी बरी उसीने उसी रङ्ग से!

काला-सा पड़ गया अन्त में काल कठिन भी ;
शोणित में ही डूब मरा मानों दुर्दिन भी।
शोणित में ही सना हुआ, उस बधिक प्रान्त में,
उभर सका बस एक बार ही वह निशान्त में।
कहाँ ओस के बिन्दु—व्योम के आँसू—सूखे ?
उष्ण पवन को मिले रेत के कण ही रूखे !

गया पुनः अब्बास, मशक कन्धे पर डाले,
जल हुसैन के लिए रक्त देकर भी पा ले।
थोड़ा था वा मन्त्र झपट उसने जो छोड़ा ?
बादल-सा दल एक ओर का तोड़ा-फोड़ा।
कौन खड़ा रह सका झेल वह झोंका तीखा ?
तिनके-से अरि बाण, बवंडर-सा वह दीखा !
भरा वीर ने नीर एक हेरे-फेरे में,
किन्तु लौटता हुआ आ गया वह घेरे में।
करने लगे प्रहार शत्रु उस पर अन्धों-से,
क्रम से दोनों हाथ कटे उसके कन्धों से !
शुण्डहीन गज-तुल्य तुण्ड में मशक दबाये,
वह चलता ही रहा मत्त-सा दाँत चबाये।

शोणित-निर्झर इधर उधर देते थे झटके,
पर उस भट के प्राण चर्म-घट में घुस अटके!
कटी अन्त में मशक, बहा भल भल कर पानी,
तब छाती-सी फटी, गिरा 'हा' कह कर मानी।
खोकर उसे हुसैन स्वयं खोये-से दीखे,
उनके उज्वल भाव और धोये-से दीखे!
"दिये प्रभो, सब बन्धु, भानजे और भतीजे,
पड़ा आर्त्त सज्जाद, रहा अकबर, यह लीजे!
चाहूँ मैं क्यों वही न, जो चाहो तुम त्राता!
माँगा तुमने, यही मुझे क्या कम हे दाता!"

परिकर बाँधी आप उन्होंने निज अकबर की,
साली कातर दृष्टि पुत्रवर को पितृवर की।
"पिता, वहाँ क्या परमपिता न मिलेंगे मुझको?"
"पर प्यासा ही भेज रहा हूँ मैं हा! तुझको।"
"चुल्लू भर भी हमें आज पानी दे पाते,
तो फिर उसमें डूब विपक्षी ही मर जाते।
दुःख मुझे भी यही, तुम्हें दे सका न पानी,
और धर्म्म के लिए हुआ मैं शोणित-दानी।"

अबलाओं के रुँधे कण्ठ में ही क्रन्दन थे,
मन विषाद से ग्रस्त, त्रस्त तृष्णा से तन थे—
"बरसे भी प्रभु करुण-जलद तो फिर क्या बरसे,
हम-से जन तो एक बूँद को ही ये तरसे!"

अन्तिम बिदा हुसैन पुत्र अकबर को देकर,
हृदय जुड़ाने चले हसन का पोता लेकर।
वैसे ही शिशु-वक्ष एक अरि-शर ने भेदा,
हर कर उसके प्राण छहर उनका कर छेदा।
इस प्रकार दुर्दैव हुआ कब किस पर आड़ा?
खोद खड्ग से गर्त्त उन्होंने निज धन गाड़ा!
गिरते गिरते सभँल गये वे काँप काँप कर,
सहा उन्होंने शोक अधर-कर चाँप चाँप कर!
ऐसा भी सर्वस्व किसीका कभी न छीजा,
पास खड़ा था सात बरस का एक भतीजा!
धर उसका कर, घूम और बढ़ खल-दल-सम्मुख,
बोल उठे वे—"न हो तुम्हें भी मेरा-सा दुख!
भलेमानुसो, सुनो, वैर मुझसे है तुमको,
कुम्हलाने दो न इस नबी के नवल कुसुम को।

नित्त हिंसा को, लो, हुसैन का माँस खिलाओ,
मेरे रुधिरपिपासु! इसे तो नीर पिलाओ!"
कहाँ देख जन-दुःख जनों के हृदय न दूखे,
किन्तु वहाँ जन न थे, भेड़िये थे वे भूखे!
ताक तीर बेपीर किसीने ऐसा मारा,
मरा तड़प कर एक बार बछचा बेचारा!
"हे मेरे प्रभु! बता, और क्या इच्छा तेरी?
यही भला, जो हुई नारियाँ मूर्च्छित मेरी।
उनकी चिन्ता नहीं, किन्तु कह, मैं सुन पाऊँ,
क्या नर के प्रति अविश्वास लेकर ही आऊँ?"

अब हुसैन का एक पुरुष साथी था—घोड़ा,
असगर-सा दुधमुहाँ न दुर्वृत्तों ने छोड़ा।
सरल साधु की कुटिल भृकुटि अब पड़ी जहाँ पर,
उनको असि ने की द्विरुक्ति वा जाँच वहाँ पर?
हय भी था हर्यश्व, पीठ पर थे वे जिसकी;
किसकी धरती और धीरता वहाँ न खिसकी?
चमू रौंदता रुका नदी तट पर ही जाकर,
करके ग्रीवा-भंग रहा प्रभु से टक लाकर।

"मुझे पिलाये बिना बन्धु, क्या तू न पियेगा ?
मेरे मरते जान लिया, तू भी न जियेगा !
सब प्यासे ही गये, पियूँ फिर मैं ही क्योंकर ?
पी ले मेरे लिए एक तू तो ज्यों त्योंकर।
हे ईश्वर, अनुरक्त जहाँ के पशु भी ऐसे,
उसी देश के मनुज हाय ! हम निर्मम कैसे !"
फिरे बिना जल पिये, दनुज-दल बीच घिरे वे,
ढला उधर रवि, इधर क्षतों से छिन्न गिरे वे।

× × × × ×

चौंक उठा सब अरब किन्तु वह रत्न कहाँ अब ?
हो बीते पर विफल हमारे यत्न यहाँ सब।
शतियाँ उसका विरह-दुख सहती जाती हैं,
"हा हुसैन ! हा हा हुसैन !" कहती जाती हैं।
मर कर भी बच सकें न उस जन के हत्यारे,
धिक्कारित हो रहे आज भी न्यारे न्यारे।
पशुता को भी दिखा सकें क्या मुहँ नरगाथा,
यदि न उठाती चलें व्यक्तियाँ उसका माथा।

चिरगाँव
पौष, १९९९